सामाजिक समरसता और दलित साहित्य

डॉ. संध्या सिलावट,
उपायुक्त, राज्य कर,
इन्दौर, मध्य प्रदेश, भारत

सम्भवतया संसार मे कोई भी भाषा ऐसी नहीं है, जिसमें दीन-हीन विवश व लाचारों के प्रति सहानुभूति और पक्षधरता के लिए कुछ न कुछ अवश्य रचा न गया हो। यदि मोटे तौर पर कहें तो एक धारा सदैव विद्यमान रही है। इसमें दया व दुःख देखकर उपजी करुणा ही मुख्य भाव है तो राजभाषा हिन्दी भी इसका अपवाद नहीं हो सकती है।

यह अलग बहस का मुद्दा है कि आदिकालीन, मध्यकालीन तथा बाद के कालखण्डों में क्या, 'जो रचा गया' उसी प्रकार के साहित्य का सृजन संभव था या 'दीन दलितों' की ओर से 'अधिकार चेतना सम्पन्न' साहित्य भी रचा जा सकता था, मगर रचने नहीं दिया गया और रचा भी गया तो वह वास्तव में साहित्य नहीं था या फिर से सार्वजनिक वर्चस्व की अन्यायकारी चेतना के चलते साहित्य स्वीकार नहीं किया गया। यहाँ हिन्दी लेखन और साहित्य में सीधे-सीधे उस धारा की पड़ताल का प्रश्न है जो आर्थिक-सामाजिक तौर पर विपन्न अछूत-दलित बनाकर रखे गये लोगों के पक्ष में रही। उनकी अपनी यातना शोषण और उनके अपमान को मुखर अभिव्यक्ति दे सकी।

इस विशिष्ट धारा में मोटेतौर पर उन लोगों का साहित्य है जो स्वयं विपन्नता, वंचना या सामाजिक भेदभाव का शिकार नहीं थे। अन्यायों के विरोध मे जो लिखते थे, एक विशिष्ट वर्ग का दूसरे वर्ग के प्रति अन्याय (मानव के विरुद्ध मानव का अन्याय) उन्हें सालता था और जो ईमानदारी से अभिव्यक्ति करते थे। अन्याय के विरुद्ध संघर्ष को अधिकार मानते थे। प्रमुख व प्रखर साहित्य उन लोगों का है जो स्वयं आर्थिक- सामाजिक अपमान, अत्याचार, अन्याय और शोषण का प्रत्यक्षतः शिकार रहे या फिर शिकार रहे वर्गों की परम्परा में से निकलकर आये। उसी तरह के लोगों के लेखन ने वस्तुतः लेखन या साहित्य में उस धारा की स्थापना की जो आज दलित लेखन या दलित साहित्य के नाम से अभिहित है। [1]

समरसता से अभिप्राय है जब किसी को पराया न समझा जाये, सब एक ही कुटुम्ब के व्यक्ति माने जाये। न कोई शापित हो न तापित न पापी, सभी समान हो। पारस्परिक मनमुटाव भेदभाव, ईर्ष्या-द्वेष आदि को भूलकर सब एक दूसरे को अपने से पूर्णतया अभिन्न समझें। मनुष्य का मनुष्य से प्रत्येक प्रकार का भेद समाप्त हो जाये। सर्वत्र पूर्ण अभिन्नता का भाव हो वहीं समरसता का भाव है। यही सामाजिक समरसता है।

मौजूदा दौर की सामाजिकता को प्रमाणिक प्रखर अभिव्यक्ति दलित साहित्य में मिल रही है। इसके आगे भाषा सौंदर्य की नहीं बल्कि सामाजिक न्याय अन्याय की बात मानवीय अस्मिता का मुद्दा पहले है।[2]

साहित्यिक रचनायें मनुष्य के मस्तिष्क पर पड़ने वाले विभिन्न सामाजिक जीवन के प्रतिबिम्बों की ऊपज होती है। जो कि कलारूप सामाजिक चेतना से कला का और सामाजिक दायित्वों से कलाकार का संबंध विच्छेद करता है, वह मनुष्य की मानवीय गरिमा के विरुद्ध कार्य करता है। मनुष्य की संचेतना उसके

सामाजिक अस्तित्व से ही निर्धारित होती है। यदि समीक्षक दलित समाज के जीवन से परिचित नहीं है और उसके अनुभवों की दाहकता से अपरिचित है तो वह दलित साहित्य की समीक्षा प्रमाणिक रूप से अथवा निष्पक्ष होकर नहीं कर सकता इसके लिये उसे दलितों के अनुभव से गुजरने की आवश्यकता नहीं है बल्कि भारतीय समाज व्यवस्था, जाति व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था, ग्रामीण अर्थव्यवस्था, सामाजिक दशा, भारतीय संस्कृति आदि का गहन अध्ययन नितांत जरूरी है।

भारतीय समाज व्यवस्था ने वर्ण व्यवस्था का एक ऐसा जिरह बख्तर पहन रखा है जिस पर लगातार हमले होते रहे फिर भी टूट नहीं पाई 20 वीं सदी में सबसे बड़ा हमला डॉ. अम्बेडकर ने किया और बौद्ध धर्म को पुनर्जीवित कर किया। वर्ण व्यवस्था के स्वरूप में बदलाव दिखाई पड़ा। इस व्यवस्था को तोड़ने में जाति व्यवस्था का टूटना जरूरी है, तभी समाज में समरसता उत्पन्न हो सकती है और साहित्य में उपजी विभ्रम की स्थिति से भी मुक्त हो सकते है।(3)

जिन लेखकों नें साहित्य में दलित अस्मिता को नंगी सच्चाई के साथ स्थापित किया उन पर राजनैतिक, सामाजिक विचारों और व्यक्तियों के पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया जाये तो जिस व्यक्ति का प्रभाव निर्विवाद रूप से सबसे अधिक दिखाई देता है वह है डॉ. भीमराव अम्बेडकर। दूसरा व्यक्तित्व है मोहनदास करमचंद गांधी का। लेकिन गांधी ने सुवर्ण मानसिकता को अधिक बदला और प्रभावित किया। डॉ. अम्बेडकर यदि परिदृश्य से अनुपस्थित रहे होते तो शायद दलित समाज गांधीवाद के साये में बने बनाये वर्ण व्यवस्थावादी ढाँचे में कुछेक सहूलियतें पाकर संतुष्ट हो गया होता। लेकिन डॉ. अम्बेडकर जिस बुनियादी सामाजिक बदलावकारी चेतना के साथ आगे आये, उसने 'दलित अस्मिता' के सवाल को भारतीय व्यवस्था के आगे एक विराट प्रश्न के रूप में खड़ा कर दिया।(4)

सामन्ती व्यवस्था से संस्कारित साहित्यकार साहित्य को समाज से ऊपर अलग दर्जा देकर स्वयं को समाज से अलग और ऊपर होने का अहंभाव पालकर कल्पना में जीता है। वह अपने अस्तित्व के लिए पग-पग पर समाज के ऊपर निर्भर करता है। समाज से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं होता । दलित साहित्य की भी मूल भावना यही है। इसलिए वह सामाजिक प्रतिबद्धता का साहित्य है।(5)

ई.एम.एस. नंबुदिरीपाद अपने लेख 'सौदर्य शास्त्र : मार्क्सवादी अवधारणा' में लूनाचार्की के शब्दों का उदाहरण देते है कोई भी साहित्य कृति चेतन या अचेतन रूप में उसी वर्गीय मानसिकता को अवश्य प्रतिबिम्बित करती है, जिस वर्ग का वह रचनाकार प्रतिनिधित्व करता है या तो यह होता है अन्यथा जैसा प्रायः होता है कि कृति तत्वों के उस जटिल मिश्रण को प्रतिध्वनित करती है। जिसमें लेखक पर पड़ने वाले विविध वर्गों के प्रभाव सक्रिय होते हैं।

दलित साहित्य की मान्यता है कि अचेतन रूप में वर्गीय मानसिकता अवश्य ही प्रतिबिम्बित होती है। उदाहरण के तौर पर नागार्जुन की कविता 'हरिजन गाथा' को देखा जा सकता है जिसमें भाग्य, मनु , ऋचायें आदि अनेक शब्द प्रतीक बनकर उभरते है। जो अचेतन रूप में भी कवि की सोच एवं संस्कार वृत्ति को उजागर कर जाते हैं, वर्णीय मानसिकता के साथ आलोच्य रचना के प्रभाव को दिशा हीन कर यथास्थिति उत्पन्न करते है। जो मात्र सहानुभूति ही जगाते है, बदलाव की प्रक्रिया तीव्र नहीं करते, न ही दलित चेतना का विकास करते है। किसी भी रचना की सामाजिक प्रतिबद्धता ही उसे वैचारिक आधार देती है। इसलिए रचना वस्तु के साथ सामाजिक अन्तः चेतना के प्रभाव को विश्लेषित करना जरूरी है।(6)

हिन्दी साहित्य में रैदास, भक्तिकाल में कबीर जहां एक ओर वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध खड़े दिखाई पड़ते है और सामाजिक बदलाव के लिए संघर्ष करते हैं। वहीं वे आध्यात्मिक दल-दल में फंसकर उसी सामंती व्यवस्था में लीन हो जाते हैं। जिसने वर्ण व्यवस्था को पुख्ता किया।(7)

ब्राह्मणवादी मानसिकता व बौद्धिक विमर्श ने जहां अवतारवाद की धारणा समाज में स्थापित की, वहीं इन अवतारों को नायक के रूप में साहित्य में खड़ा किया। ये तमाम नायक दलित विरोधी हैं। स्त्रियों के प्रति रवैया सामंती है। ब्राह्मण के वे रक्षक हैं। वे तमाम नायक युद्धोरत हैं। सत्ता हासिल कर अपना वर्चस्व कायम करना ही उनका लक्ष्य है।

दलित साहित्य ऐसे नायकत्व का विरोधी है समाज की जड़ता को तोड़कर वह मनुष्य की पक्षधरता को सर्वोपरि मानता है। सामाजिक बदलाव के माध्यम से सामाजिक समरसता चाहता है।(8)

भारतीय ग्रामीण संस्कृति में दूसरे के श्रम एवं संघर्ष पर अपनी समृद्धि बनाकर शोषण के हथकंडे अपनाना संस्कृति का हिस्सा रहा है जिसमें उच्च वर्ग के तमाम लोग शामिल रहे जिन्हें समाज में आदर व सम्मान प्राप्त था।(9)

विद्धान् आलोचक मैनेजर पांडेय कहते है हिन्दी के कई मार्क्सवादी आलोचक दलित साहित्य की आलोचना करने के लिए उन्हीं तर्कों का सहारा लेते हैं जो कलावादियों के हैं। लेकिन कुछ दूसरे वर्गवाद के नाम पर दलित साहित्य का विरोध करते है। वर्गवाद और राष्ट्रवाद को मिलाकर जातीयता की धारणा बनाते हैं और साहित्य की कसौटी पर उसे कसते हैं। ऐसे लोगों को दलित साहित्य के आंदोलन में हिन्दी साहित्य की जातीयता के परम्परा बोध में हिन्दी क्षेत्र की दलित जातियों पर हुए अनन्त अमानुषिक अत्याचारों की स्मृति नहीं होती और दलितों के संघर्ष की पहचान भी नहीं। ऐसी जातीयता और उसके परम्पराबोध को दलित क्यों स्वीकार करेगें। (10)

कबीर ने भी कोरे पाण्डित्य का खण्डन-मण्डन कर सत्य का प्रचार किया। उन्होंने मानव को तार्किक दृष्टि से अभेद बताकर जाति, वर्ग व सम्प्रदाय का भेद दूर किया। मानव की एकता उनका आत्म दर्शन था।(11)

इसलिए उपयुक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि दलित साहित्य ही समरसता की बात करने वाला है, मानव को मानव से, मानव होने के नाते जोड़ने वाला है। उसकी मूल भावना यही है कि संसार में जैसे वह तापित, शापित व दुःखी रहता आया है, अब कोई न रहे सबका कल्याण हो।

वैदिक युग में समभाव था, इसलिए शोषण नहीं था। जब वर्ण व्यवस्था ने जाति का रूप लिया और कठोरतम रूप लिया तो तीनों वर्णों की सेवा करने वाले चौथे वर्ण पर अत्याचार बढ़ते गए। उसे श्रापित, तापित और पापी बना दिया गया। आगे चलकर उसकी स्थिति ऐसी कर दी गई कि यदि वेद वाक्य उसके कानों में पड़ जायें तो उसमें पिघला सीसा भर दो, वह बोले तो उसकी जिह्वा काट लो आदि सभी अमानुषिक कृत्य मानव ने ही मानव के साथ किये। कबीर तक भी यही परम्परा थी। उन्होंने उसके विरोध में आवाज उठायी, पर यह जातिगत बंधन नहीं हिले। स्थिति यथावत् रही। ज्योतिबा फुले जैसे अन्य लोगों ने भी इसके विरुद्ध कार्य किया फिर आये डॉ. भीमराव अम्बेडकर जिन्होंने दलितों की सोई हुई आत्मा को जगाया उन्हें मनुष्य होने की याद दिलाई। उन्हें अधिकारों के प्रति सचेत किया। देश स्वंतत्र हुआ। संविधान ने दलितों को सवर्णों

के समकक्ष बना दिया। भारतीय समाज में कागजों पर तो सब कुछ हो जाता है परन्तु समाज में यथार्थ में अत्यंत मामूली परिवर्तन होते है। दलितों में अपने अधिकारों के प्रति सजगता आ गई है संविधान की मदद से आज वे अपने अधिकारों की लड़ाई सर्वत्र लड़ रहे हैं। उनका साहित्य मानव को मानव का दर्जा दिये जाने की बात करता है। सामाजिक समरसता की बात करता है। अन्य साहित्य भी करते हैं परन्तु आदर्श व यथार्थ में अन्तर रखकर, परन्तु एक दलित साहित्य ही है जिसने मानव को मानव समझा। सामाजिक समरसता को आदर्श व यथार्थ रूप में वर्णित किया । बाबा साहेब ने जो सामाजिक समरसता का बीज लगाया था उनके अनुयायी उसे सींचते आ रहे हैं। धीरे-धीरे इस बीज ने पौधे का रूप ले लिया है। वह दिन अधिक दूर नहीं जब यह पौधा एक बड़े और घने वृक्ष का आकार ले लेगा।

संदर्भ ग्रंथ-

(क) दलित दखल श्यौराज सिंह 'बेचैन' डॉ. रजत रानी 'मीनू' सामाजिक प्रमाणिकता की अभिव्यक्ति है दलित साहित्य विभांशु दिव्याल पृ. सं. 5-(1) पृ. सं. 6-(2) पृं. सं. 6-(4)

(ख) दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र ओम प्रकाश बाल्मीकि दलित साहित्य की सामाजिक प्रतिबद्धता पृ. सं. 59-60-(3), पृ. सं. 60-(5), (6)

दलित साहित्य की धार्मिक, सांस्कृतिक मान्यतायें पृ. सं. 71-(7), पृ. सं.74-(8), (10) पृ. सं. 75-(9)

(ग) कबीर का सामाजिक दर्शन- डॉ. प्रहलाद मौर्य, पृ. सं. 184-(11)

(घ) कामायनी भाष्य- द्वारिका प्रसाद सक्सेना

डॉ. संध्या सिलावट,
उपायुक्त, राज्य कर,
इन्दौर, मध्य प्रदेश, भारत